

अकेले धनराशि के बूते कुछ नहीं होगा, मानसिकता बदली जाए

कैसे बनें आक्सफोर्ड, केंब्रिज की टक्कर के संस्थान



दृष्टिकोण

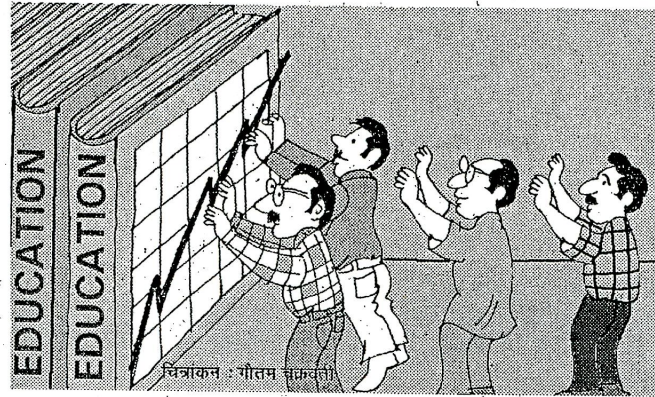
जयंत नालीकर

पिछले बजट में वित्तमंत्री ने एलान किया कि राष्ट्रीय कोष से सौ करोड़ रुपयों का अनुदान बंगलोर की इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस को दिया जाएगा ताकि वह अपना स्तर और ऊंचा करके सुप्रसिद्ध विश्वविद्यालयों, आक्सफोर्ड और केंब्रिज के बराबर आ सके। सामान्य रूप से सरकारी प्राथमिकताओं में शिक्षा क्षेत्र काफी निम्न स्तर पर रहता है और वहां भी उच्च शिक्षा और भी निचले स्तर पर हुआ करती है। ऐसे माहौल में वित्तमंत्री को उच्च शिक्षा की फिक्र करने का समय मिला। यह खुशी की बात है। लेकिन इस कदम के पीछे जो विचारधारा है उसे जांचना उचित होगा। क्या महज धनराशि से किसी शिक्षा संस्थान का स्तर बढ़ाया जा सकता है?

कल्पना कीजिए कि मुंबई या दिल्ली के क्रिकेट संस्थानों को एक करोड़ की राशि देकर कहा गया, जाओ आस्ट्रेलियाई टीम का स्तर यहां लाओ। यह कहा तक संभव होगा? ब्रेडमैन तो न सही, क्या वे एडम गिलक्रिस्ट, स्टीव वॉ और शेन वार्न

हमारे यहां ला पाएंगे? इसमें केवल बल्लेबाजी या गेंदबाजी के नए रिकार्ड बनाने काफ़ी नहीं हैं, वे तो आज भी बनते जा रहे हैं। बल्कि हमें वे इस तरह बनाने होंगे कि हम मैच जीतें।

किसी भी रचनात्मक क्षेत्र में ऊंचाई हासिल करने में धनराशि आवश्यक भले हो पर किसी भी स्थिति में पर्याप्त नहीं समझी जा सकती। अब जिन आक्सब्रिज (आक्सफोर्ड+केंब्रिज) का यहां जिक्र हुआ वहां के एक-दो उदाहरण देखें। कोई डेढ़ शताब्दी पहले की घटना है। केंब्रिज की सर्वोच्च गणित परीक्षा में दो छात्र एक-दूसरे के मुकाबले में खड़े थे, थॉमसन और पार्किंसन। परीक्षा में एक ऐसा कठिन सवाल पूछा गया था कि उसे केवल यही दो छात्र सुलझा पाए। लेकिन परीक्षक को शक हुआ क्योंकि दोनों के उत्तर हूबहू एक जैसे थे। कहीं किसी एक ने दूसरे की नकल तो नहीं की? उसने पार्किंसन को बुलाकर पूछा- 'क्यों भाई तुम्हें इस कठिन प्रश्न का उत्तर कैसे मिला?' वह बोला 'सर मैं पाठ्यपुस्तकों के सिवाय शोध पीरियॉडिकल्स भी पढ़ता हूँ। एक जर्नल में मुझे एक निबंध पढ़ते वक्त यह प्रश्न सुलझाया हुआ मिला था। वह मुझे याद था। लेख किसने लिखा, वह नाम तो वहां नहीं था'। परीक्षक ने सवाल वहीं से लिया था। उसने पार्किंसन को शाबासी देकर बिदा किया। फिर थॉमसन को बुलाया। उसे अब यकीन होने लगा था कि थॉमसन ने पार्किंसन की नकल की होगी। पार्किंसन का जर्नल वाला किस्सा सुनाकर परीक्षक ने



थॉमसन से पूछा 'क्यों तुम क्या सफाई दोगे? यह सवाल सुलझाने की जानकारी तुम्हें कहां से मिली? थॉमसन बोला 'सर, मैंने ही वह शोध लिखा था'। यही थॉमसन आगे चलकर विख्यात वैज्ञानिक लार्ड केल्विन के नाम से जाने गए।

दूसरा किस्सा मेरे स्वानुभव का है। जब मैं केंब्रिज में उसी परीक्षा के लिए पढ़ रहा था, हमारे शिक्षकों में थे पॉल डिरैंक। पुंजवाद यानी क्वॉंटम थियरी की नींव 1925-30 के बीच रखने वाले इने-गिने वैज्ञानिकों में एक। पूरा विषय उनसे सीखते समय हम छात्रों को वही स्फूर्ति मिली जो उन भाग्यशालियों को मिली होगी जिन्होंने रामचरित मानस खुद गोस्वामी तुलसीदास जी के मुख से सुनी होगी। लेकिन 'यह खोज मेरी थी' ऐसा एक बार भी डिरैंक महोदय ने अपने व्याख्यानों में नहीं कहा।

केल्विन हों या डिरैंक या जेजे थॉमस, लॉरेंस ब्रॉग, अलेक्सेंडर टॉड, केंड्रू या क्रिक छात्रों, अध्यापकों और शोधकों में केंब्रिज का अपना अनोखा स्तर आखिर इमारतों, प्रयोगशालाओं या पुस्तकालयों द्वारा हासिल नहीं हुआ। मानव संसाधन ही उसके मूल में है। ब्रिटेन के विख्यात साहित्यिक, राजनयिक ऑक्सफोर्ड की शालाओं से निकले। पैनी बुद्धिमत्ता एवं स्वयं कुछ कर दिखाने की आकांक्षा से प्रेरित छात्र यहां आए क्योंकि इन विश्वविद्यालयों की दीर्घ परंपरा निभाने वाले अध्यापक एवं शोधक यहां थे। मानव संसाधन हमारे यहां भी संभव है यदि हमारे विश्वविद्यालय गुणवत्ता को प्रधानता दें, यदि राजनीतिज्ञों और सरकारी बाबुओं की दखलंदाजी न रहे, यदि कुलपति को उचित पर अप्रिय निर्णय लेते वक्त सचिवालय से

आने वाले फोन की चिंता न हो। आजकल हमारे शोध संस्थानों में युवा वैज्ञानिकों की कमी महसूस की जा रही है। आज के छात्र, खासकर मेधावी छात्र, विज्ञान की ओर क्यों नहीं प्रेरित होते। यह सवाल पिछले 10-12 वर्षों से अधिकाधिक गंभीर होता जा रहा है। इसकी कई वजहें हैं। मेधावी छात्रों को प्रेरणा विश्वविद्यालयों में मिलनी चाहिए। वहां यदि शोध का माहौल हो तो यह संभव है। लेकिन अधिकांश विश्वविद्यालयीन अध्यापकों को पढ़ाने की 'ड्यूटी' के साथ-साथ शोधकार्य के लिए समय नहीं मिलता।

हमारे विविध शोध संस्थानों में शोध का माहौल तो है लेकिन वहां डिग्री स्तर पर पढ़ाई नहीं चलती। यदि वहां के शोध वैज्ञानिकों से कहा जाए कि आप स्थानीय विश्वविद्यालय या कालेजों में कुछ विषयों पर वहां के विद्यार्थियों को क्यों नहीं लेकर देते तो वे कहेंगे कि इसके लिए उनके पास समय नहीं है। जहां इंग्लैंड, अमेरिका में नोबेल पुरस्कार विजयी वैज्ञानिक या उसी स्तर के अन्य वैज्ञानिक कालेज के छात्रों को पढ़ाने का समय का अपव्यय नहीं मानते वहां भारत के शोध वैज्ञानिकों को समय की कठिनाई क्यों महसूस होती है? और क्या हमारे विश्वविद्यालयों में पढ़ाने के बोझ को हलका कर अध्यापकों को शोध कार्य के लिए प्रेरित नहीं किया जा सकता। आक्सब्रिज से टक्कर लेने के लिए जो नई मानसिकता चाहिए, उसको हासिल करने के लिए 100 करोड़ न तो आवश्यक हैं और न पर्याप्त।